INTERNATIONAL INSIGHTS
JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY RESEARCH

www.insightresearch.org.in
Multidisciplinary, Multi-Lingual, Peer Reviewed /Refereed
Open Access Journal
Volume-3, Issue 2, April-June 2026
ISSN : 3049-0847 (E)
IMPACT FACTOR : 7.725
https://doi.org/10.5281/zenodo.21451238

भारत में स्वायत्त महिला समूह और महिला आंदोलन: नारीवादी लामबंदी और कानूनी सुधार

शिवांशु मिश्रा
शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
हिमाँशु सिंह
शोधार्थी, सतत शिक्षा एवं विस्तार विभाग , दिल्ली विश्वविद्यालय

सार (Abstract)

स्वतंत्रता के बाद भारत ने संविधान के माध्यम से समानता की औपचारिक गारंटी तो दी, पर व्यवहार में लैंगिक भेदभाव और हिंसा बनी रही। यह विरोधाभास 1970 के दशक के उत्तरार्ध में एक नए तरह के नारीवादी संगठन — स्वायत्त महिला समूहों (Autonomous Women's Groups, AWGs) — के उभार का आधार बना। पूर्व के कल्याण-केंद्रित महिला संगठनों से अलग, इन समूहों ने राजनीतिक दलों और राज्य-प्रायोजित ढांचों से जानबूझकर दूरी बनाए रखी और महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को निजी पारिवारिक मामला नहीं, बल्कि संवैधानिक अधिकारों का प्रश्न माना। यह शोध पत्र वैश्विक नारीवादी सिद्धांत की पृष्ठभूमि में भारतीय महिला आंदोलन के इस मोड़ की पड़ताल करता है, और दो प्रमुख उदाहरणों — मथुरा अभिरक्षा-बलात्कार मामला और दहेज-हत्या विरोधी अभियान — के माध्यम से यह दिखाता है कि किस तरह जमीनी लामबंदी ने आपराधिक कानून (संशोधन) अधिनियम, 1983 और दहेज निषेध अधिनियम में हुए संशोधनों को आकार दिया। साथ ही यह पत्र यह भी स्वीकार करता है कि कानूनी जीत अकेले पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचनाओं को नहीं बदल सकती, और यह कि 1980 के दशक के सुधारों को केवल नारीवादी दबाव का परिणाम मानना एक अधूरी व्याख्या होगी — आपातकाल के बाद के व्यापक सिविल-सोसायटी पुनरुत्थान और राज्य के अपने राजनीतिक हितों ने भी इसमें भूमिका निभाई। इस प्रकार यह अध्ययन स्वायत्त महिला समूहों को भारत में नारीवादी कानूनी लामबंदी के एक निर्णायक — किंतु अकेले नहीं, बल्कि एक व्यापक राजनीतिक संयोग के भीतर काम करने वाले — एजेंट के रूप में स्थापित करता है।

प्रस्तावना (Introduction)

महिला आंदोलन आधुनिक युग के सबसे प्रभावशाली सामाजिक आंदोलनों में गिना जाता है। इसने समानता, नागरिकता और लोकतंत्र से जुड़ी बहसों को नए सिरे से परिभाषित किया है। जाति, वर्ग या राष्ट्रीयता के इर्द-गिर्द संगठित होने वाले आंदोलनों से यह इस मायने में अलग है कि इसकी बुनियाद इस मान्यता पर टिकी है कि लैंगिक असमानता परिवार, कार्यस्थल, समुदाय और राज्य — हर जगह मौजूद है। यही कारण है कि नारीवादी सक्रियता केवल कानूनी बराबरी तक सीमित नहीं रही, बल्कि उन सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं को चुनौती देने की दिशा में बढ़ी जो महिलाओं की अधीनता को बार-बार जन्म देती हैं।

भारत के संदर्भ में यह प्रश्न विशेष रूप से दिलचस्प है, क्योंकि यहां संवैधानिक समानता और सामाजिक वास्तविकता के बीच का फासला बहुत स्पष्ट रहा है। स्वतंत्रता के तुरंत बाद के दशकों में महिला संगठनों का काम मुख्यतः कल्याण और पुनर्वास तक सीमित था — मानो कानूनी गारंटियां खुद-ब-खुद सामाजिक बदलाव ले आएंगी। यह आशावाद 1960 के दशक के अंत तक टूटने लगा। इसी दौर में एक नए तरह की नारीवादी राजनीति उभरी, जिसने राज्य और समाज दोनों को सीधे कठघरे में खड़ा किया।

यह पत्र तर्क देता है कि 1970 के दशक के उत्तरार्ध में उभरे स्वायत्त महिला समूहों (AWGs) ने भारतीय नारीवाद की दिशा को स्थायी रूप से बदल दिया। अभिरक्षा में बलात्कार, दहेज हत्या और घरेलू हिंसा के विरुद्ध उनके अभियानों ने इन मुद्दों को निजी त्रासदी से सार्वजनिक नीति के प्रश्न में बदल दिया, और इसका सीधा असर 1980 के दशक के कानूनी सुधारों पर पड़ा। साथ ही यह पत्र एक सतर्क रुख भी अपनाता है — यह नहीं मानता कि यह सुधार केवल नारीवादी दबाव का परिणाम था; बल्कि यह उस व्यापक राजनीतिक परिस्थिति को भी रेखांकित करता है जिसके भीतर यह लामबंदी सफल हो सकी।

वैश्विक नारीवादी सिद्धांत और आंदोलन की तीन लहरें

महिला आंदोलन के प्रक्षेपवक्र को परंपरागत रूप से तीन लहरों में समझा जाता है। पहली लहर, जो उन्नीसवीं और बीसवीं सदी की शुरुआत में उभरी, मुख्यतः कानूनी समानता, मताधिकार और शिक्षा तक पहुंच पर केंद्रित थी — मैरी वॉलस्टोनक्राफ्ट का यह तर्क कि महिलाओं की तथाकथित बौद्धिक हीनता दरअसल शिक्षा से वंचित

रखे जाने का परिणाम है (Wollstonecraft, 1792/1992), और बाद में जॉन स्टूअर्ट मिल का यह तर्क कि लैंगिक असमानता स्वाभाविक नहीं बल्कि सामाजिक रूप से थोपी गई है (Mill, 1869/1988), इस लहर के बौद्धिक आधार बने।

दूसरी लहर, जिसने 1960-70 के दशक में गति पकड़ी, औपचारिक अधिकारों से आगे बढ़कर प्रजनन स्वतंत्रता, घरेलू हिंसा और कार्यस्थल की असमानता जैसे मुद्दों तक फैली। बेट्टी फ्रीडन का यह अवलोकन कि उपनगरीय गृहिणी जीवन एक 'नाम-रहित समस्या' पैदा करता है (Friedan, 1963), और हाइडी हार्टमैन का यह विश्लेषण कि पूंजीवाद और पितृसत्ता एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं (Hartmann, 1979), इसी लहर की उपज हैं। तीसरी लहर, जो 1990 के दशक में उभरी, ने जाति, नस्ल और वर्ग द्वारा आकारित महिलाओं के विविध अनुभवों पर बल देकर नारीवाद के भीतर की सार्वभौमिक धारणाओं को चुनौती दी — किम्बर्ले क्रेनशॉ की 'अंतर-अनुभागीयता' (intersectionality) की अवधारणा (Crenshaw, 1989) और चंद्रा तल्पड़े मोहंती की यह चेतावनी कि पश्चिमी नारीवाद 'तीसरी दुनिया की महिला' को एक समरूप, असहाय श्रेणी में न बदल दे (Mohanty, 1988), इसी मोड़ के प्रतिनिधि विचार हैं। बेल हुक्स ने इसी कड़ी में यह जोड़ा कि नारीवाद को हाशिए से केंद्र की ओर देखे जाने की जरूरत है, न कि केवल विशेषाधिकार-प्राप्त महिलाओं के अनुभव से (hooks, 1984)।

इन तीनों लहरों को एक-दूसरे का विकल्प मानने के बजाय क्रमिक विस्तार के रूप में देखा जाना चाहिए। भारतीय संदर्भ में यह विशेष रूप से प्रासंगिक है, क्योंकि यहां का नारीवाद पश्चिमी 'लहरों' के ढांचे में पूरी तरह फिट नहीं बैठता — औपनिवेशिक इतिहास, जातीय पदानुक्रम और उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्र-निर्माण ने इसे एक अलग ही रास्ता दिया, जिसकी चर्चा अगले भाग में की गई है।

भारतीय महिला आंदोलन: कल्याण से अधिकार-आधारित सक्रियता तक

उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक सुधार आंदोलनों — राजा राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, ज्योतिराव फुले और सावित्रीबाई फुले द्वारा सती, बाल विवाह और महिला-शिक्षा पर लगी रोक के विरुद्ध चलाए गए अभियानों — ने भारत में संगठित नारीवादी चेतना की नींव रखी। किंतु ये सुधार बड़े पैमाने पर पुरुष-नेतृत्व वाली पहलों से निकले थे और इन्हें पितृसत्तात्मक ढांचे को बदलने के बजाय भारतीय समाज को 'आधुनिक' बनाने के व्यापक लक्ष्य के भीतर रखा गया था (Chakravarti, 1993)। राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान गांधी के नेतृत्व में महिलाएं बड़ी संख्या में सार्वजनिक जीवन में आईं, पर उनकी विशिष्ट चिंताएं प्रायः राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बड़े लक्ष्य के अधीन रहीं (Forbes, 1996)।

स्वतंत्रता के बाद संविधान ने कानून के समक्ष समानता और लिंग-आधारित भेदभाव के विरुद्ध संरक्षण की गारंटी दी (Government of India, 1950), और हिंदू कोड बिल जैसे विधायी कदमों ने विवाह व उत्तराधिकार में महिलाओं के अधिकारों का विस्तार किया। इस कानूनी आशावाद के चलते 1950 और 1960 के दशक के मध्य के बीच के समय को अक्सर भारतीय महिला आंदोलन का 'मौन दशक' कहा जाता है, क्योंकि संगठित सक्रियता अपेक्षाकृत सीमित रही (Kumar, 1993)। पर यह शांति भ्रामक थी — नीता देसाई के अनुसार, दहेज हत्या, घरेलू हिंसा और अभिरक्षा में बलात्कार की बढ़ती घटनाओं ने जल्द ही यह उजागर कर दिया कि कानूनी बराबरी रोज़मर्रा की असमानता में तब्दील नहीं हो पाई थी (Desai, 1986)।

1974 में प्रकाशित 'टुवर्ड्स इक्वेलिटी' रिपोर्ट इस बदलाव का एक निर्णायक मोड़ थी। भारत में महिलाओं की स्थिति पर बनी समिति ने शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में लगातार बनी असमानताओं को व्यवस्थित रूप से दर्ज किया (Committee on the Status of Women in India, 1974), और इस तरह संवैधानिक आदर्श व सामाजिक यथार्थ के बीच की खाई को सार्वजनिक बहस के केंद्र में ला दिया। इसके बाद संयुक्त राष्ट्र महिला दशक (1975-1985) की घोषणा ने शोध, वकालत और अंतरराष्ट्रीय संवाद के लिए नए मंच बनाए। इसी दौर में महिलाएं चिपको आंदोलन, मूल्य-वृद्धि विरोधी आंदोलनों और स्वरोजगार महिला संघ (SEWA) जैसे श्रम आंदोलनों में भी सक्रिय रूप से शामिल हुईं, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि महिलाओं के मुद्दे विकास, पर्यावरण और श्रम अधिकारों के प्रश्नों से गहरे जुड़े हुए हैं (Omvedt, 1993)।

स्वायत्त महिला समूहों का उदय

इसी बदलते राजनीतिक माहौल में स्वायत्त महिला समूह (AWGs) उभरे। पूर्व के महिला संगठनों के विपरीत, जो प्रायः राजनीतिक दलों, ट्रेड यूनियनों या राज्य-प्रायोजित संस्थानों से जुड़े रहते थे, इन समूहों ने जानबूझकर अपनी संगठनात्मक और वैचारिक स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया — यह इस विश्वास से निकला था कि महिलाओं का उत्पीड़न अपने आप में एक राजनीतिक प्रश्न है, जिसे मौजूदा राजनीतिक ढांचों की प्राथमिकताओं के भीतर पर्याप्त जगह नहीं मिल सकती (Kumar, 1993)। हालांकि महिलाओं ने समाजवादी, किसान और आपातकाल-विरोधी संघर्षों में सक्रिय भागीदारी की थी, पर घरेलू हिंसा, बलात्कार और दहेज जैसे मुद्दे इन बड़े आंदोलनों में हाशिए पर ही रहे — और यही असंतोष एक स्वतंत्र संगठनात्मक ढांचे की मांग का आधार बना (Menon, 2012)।

इन समूहों का सबसे बड़ा वैचारिक योगदान यह था कि उन्होंने महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को निजी पारिवारिक मामले के बजाय एक सार्वजनिक-राजनीतिक मुद्दे के रूप में फिर से परिभाषित किया — यह तर्क कि 'व्यक्तिगत ही राजनीतिक है' अमेरिकी दूसरी-लहर नारीवाद से उधार लिया गया था (Hanisch, 1970), पर भारतीय संदर्भ में इसने एक खास तीखापन हासिल किया, क्योंकि यहां घरेलू हिंसा और दहेज हत्या को अक्सर 'पारिवारिक मामला' कहकर पुलिस और अदालतों द्वारा नज़रअंदाज़ किया जाता था। 'फोरम अगेंस्ट रेप' (बाद में फोरम अगेंस्ट ऑप्रेशन ऑफ वूमेन), 'सहेली', 'विमोचना' और 'स्त्री संघर्ष' जैसे संगठन इस नई राजनीति के प्रमुख मंच बनकर उभरे। कल्याणकारी कार्यक्रमों या केवल विधायी पैरवी पर निर्भर रहने के बजाय, इन्होंने जमीनी लामबंदी, सार्वजनिक विरोध, तथ्य-खोज जांच, नुक्कड़ नाटक और

शहरों के बीच सहयोगी नेटवर्क को अपनाया — एक विकेंद्रीकृत ढांचा, जिसने चुनावी राजनीति से दूरी बनाए रखते हुए भी हिंसा की विशिष्ट घटनाओं पर त्वरित प्रतिक्रिया देना संभव बनाया (Sen, 2000)।

स्वायत्त महिला समूह और कानूनी सुधार की राजनीति

स्वायत्त महिला समूहों ने कानून को केवल एक तटस्थ ढांचे के रूप में नहीं, बल्कि एक प्रतिस्पर्धी राजनीतिक क्षेत्र के रूप में देखा — ऐसा क्षेत्र जो पितृसत्तात्मक सत्ता को पुनरुत्पादित भी कर सकता है और उसे चुनौती भी दे सकता है। बलात्कार और दहेज के विरुद्ध उनके अभियान यह दिखाते हैं कि किस तरह जमीनी लामबंदी को कानूनी वकालत और सार्वजनिक जुड़ाव के साथ जोड़कर विधायी सुधार को प्रभावित किया जा सकता है।

1. मथुरा अभिरक्षा-बलात्कार मामला और बलात्कार-विरोधी लामबंदी

1972 में महाराष्ट्र के एक पुलिस स्टेशन में एक किशोर आदिवासी लड़की, मथुरा, के साथ हुए अभिरक्षा-बलात्कार को समकालीन भारतीय नारीवादी राजनीति के विकास में एक निर्णायक मोड़ माना जाता है। सत्र न्यायालय ने आरोपी पुलिसकर्मियों को बरी कर दिया था, बॉम्बे उच्च न्यायालय ने उन्हें दोषी ठहराया, पर 'तुकाराम बनाम महाराष्ट्र राज्य' (1979) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहते हुए दोषसिद्धि पलट दी कि शारीरिक प्रतिरोध के स्पष्ट संकेत न होने से सहमति का अनुमान लगाया जा सकता है — एक तर्क जिसने महिलाओं की कामुकता और विश्वसनीयता को लेकर गहरी पितृसत्तात्मक धारणाओं को उजागर कर दिया।

इस फैसले पर उपेंद्र बक्सी, लतिका सरकार, वसुधा धागमवार और रघुनाथ केलकर द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश को लिखे गए एक ऐतिहासिक खुले पत्र ने तीखी आपत्ति दर्ज की, जिसमें अदालत द्वारा 'सहमति' की व्याख्या पर सवाल उठाया गया (Baxi, Sarkar, Dhagamwar, & Kelkar, 1980)। यह पत्र देशव्यापी नारीवादी लामबंदी का एक उत्प्रेरक बन गया — कानूनी विद्वता के भीतर से उठी यह आलोचना अपने आप में असामान्य थी, क्योंकि इसने कानूनी तर्क-प्रणाली को ही नारीवादी विश्लेषण का विषय बना दिया।

'फोरम अगेंस्ट रेप' जैसे संगठनों ने देशभर में विरोध मार्च, हस्ताक्षर अभियान और कानूनी जागरूकता कार्यक्रम आयोजित किए, और नागरिक स्वतंत्रता संगठनों के साथ मिलकर काम किया। इन अभियानों ने इस लोकप्रिय धारणा को खारिज किया कि बलात्कार महज़ एक व्यक्तिगत अपराध है — इसके बजाय उन्होंने इसे पितृसत्तात्मक वर्चस्व के एक साधन के रूप में प्रस्तुत किया, जिसे पुलिस और न्यायिक संस्थाएं अपनी कार्यप्रणाली से ही सुदृढ़ करती हैं।

2. दहेज हत्याएं और कानूनी सुधार की ओर बढ़ते कदम

मथुरा मामले के बाद देशव्यापी आंदोलन ने संसद पर यौन अपराधों से जुड़े कानूनी ढांचे पर पुनर्विचार का दबाव बनाया, जिसके परिणामस्वरूप आपराधिक कानून (संशोधन) अधिनियम, 1983 पारित हुआ — इसने अभिरक्षा में बलात्कार को अपराध की अलग श्रेणी माना, पुलिस अधिकारियों द्वारा किए गए बलात्कार पर कड़ी सज़ा तय की, और कुछ मामलों में सहमति साबित करने का भार अभियुक्त पर डाला।

लगभग समानांतर रूप से, 1970 के दशक के अंत और 1980 के दशक की शुरुआत में स्वायत्त महिला समूहों ने दहेज हत्याओं की बढ़ती घटनाओं पर ध्यान केंद्रित किया। इन मौतों को पृथक पारिवारिक विवाद मानने के बजाय, इन समूहों ने तर्क दिया कि यह पितृसत्तात्मक पारिवारिक ढांचे और अपर्याप्त कानूनी संरक्षण से उपजी व्यवस्थागत हिंसा है — वीना ओल्डनबर्ग ने इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए दिखाया कि दहेज-प्रथा का 'पारंपरिक' स्वरूप स्वयं औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों से गहरा जुड़ा था, न कि किसी शुद्ध सांस्कृतिक परंपरा से (Oldenburg, 2002)। विरोध प्रदर्शनों, मीडिया अभियानों और मामलों के व्यवस्थित दस्तावेज़ीकरण ने राज्य को दहेज-हिंसा को विधायी हस्तक्षेप की मांग करने वाला सार्वजनिक मुद्दा मानने पर मजबूर किया (Kumar, 1993)।

इसका परिणाम 1984 और 1986 में दहेज निषेध अधिनियम में हुए संशोधनों के रूप में सामने आया, जिसने दहेज की परिभाषा का विस्तार किया और दंड को कड़ा किया। इसके साथ ही 1983 में भारतीय दंड संहिता में धारा 498A जोड़ी गई, जिसने पतियों और उनके रिश्तेदारों द्वारा विवाहित महिलाओं के प्रति क्रूरता को अपराध घोषित किया, और 1986 में धारा 304B के ज़रिए दहेज-हत्या को एक विशिष्ट अपराध के रूप में परिभाषित किया गया, जिसमें साक्ष्य के भार को लेकर विशेष प्रावधान जोड़े गए (Agnes, 1992; Gangoli, 2007)। इन कानूनी बदलावों ने एक गहरे वैचारिक बदलाव को भी दर्शाया — घरेलू हिंसा और दहेज उत्पीड़न, जिन्हें पहले निजी पारिवारिक मामला माना जाता था, अब संवैधानिक अधिकारों के उल्लंघन के रूप में मान्यता पाने लगे।

सीमाएं और वैकल्पिक व्याख्याएं

इन उपलब्धियों को केवल स्वायत्त महिला समूहों के दबाव का सीधा परिणाम मान लेना एक अति-सरलीकरण होगा। 1977 में आपातकाल की समाप्ति के बाद भारत में सिविल सोसायटी का व्यापक पुनरुत्थान हुआ — नागरिक अधिकार संगठन, पत्रकारिता और न्यायिक सक्रियता, सभी इसी दौर में मज़बूत हुए, और नारीवादी लामबंदी इसी बड़े राजनीतिक अवसर-ढांचे (political opportunity structure) का हिस्सा थी, न कि उससे अलग-थलग कोई घटना। साथ ही, कांग्रेस और बाद की सरकारों के लिए 'आधुनिक', 'प्रगतिशील' कानून पारित करना अपने आप में एक राजनीतिक-वैधता की रणनीति थी, जिसका नारीवादी मांगों से मेल खाना आवश्यक रूप से नारीवादी सक्रियता का ही परिणाम नहीं कहा जा सकता। इसलिए बेहतर यह होगा कि 1983-86 के कानूनी सुधारों को नारीवादी दबाव, मीडिया के बदलते रुख़ और राज्य की अपनी वैधता-राजनीति के बीच एक संयोग के रूप में समझा जाए।

दूसरी सीमा कार्यान्वयन की है। कड़े कानूनों के बावजूद, नलिनी मेनन के अनुसार पुलिसिंग और न्यायिक संस्थाओं के भीतर पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण बने रहने के कारण इनका क्रियान्वयन असमान रहा है (Menon, 2012) — कम रिपोर्टिंग, प्रक्रियागत देरी और कम दोषसिद्धि दर आज भी महिलाओं की न्याय तक पहुंच को सीमित करती है। इसीलिए स्वायत्त महिला समूहों ने स्वयं कभी कानून को नारीवादी संघर्ष का अंतिम पड़ाव नहीं माना, बल्कि उसे पितृसत्तात्मक सामाजिक संबंधों को बदलने के एक बड़े प्रोजेक्ट के एक हिस्से के रूप में देखा।

निष्कर्ष (Conclusion)

महिला आंदोलन का विकास यह दिखाता है कि लैंगिक समानता के संघर्ष ने खुद को लगातार बदलते ऐतिहासिक और राजनीतिक संदर्भों के अनुसार ढाला है। भारतीय अनुभव इस वैश्विक कहानी का एक विशिष्ट संस्करण है — यहां औपनिवेशिक विरासत, जातीय पदानुक्रम और उत्तर-औपनिवेशिक राज्य-निर्माण ने नारीवादी राजनीति को एक अलग ही आकार दिया।

स्वायत्त महिला समूहों का उदय इस प्रक्षेपवक्र में एक निर्णायक मोड़ था। राजनीतिक दलों या कल्याणकारी संस्थाओं से जुड़े पुराने संगठनों के विपरीत, इन्होंने एक स्वतंत्र, अधिकार-आधारित राजनीति अपनाई, जिसने महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को सार्वजनिक और संवैधानिक प्रश्न के रूप में स्थापित किया। मथुरा मामले के बाद की लामबंदी और दहेज-हत्या विरोधी अभियानों ने दिखाया कि निरंतर, संगठित नागरिक सक्रियता राज्य की संस्थाओं को प्रभावित कर सकती है — भले ही यह प्रभाव अकेले काम नहीं करता, बल्कि व्यापक राजनीतिक परिस्थितियों के साथ मिलकर काम करता है।

साथ ही, यह अध्ययन इस बात को भी रेखांकित करता है कि कानूनी सुधार अपने आप में सामाजिक बदलाव का पर्याय नहीं है। कार्यान्वयन की खामियां और संस्थागत पूर्वाग्रह आज भी बने हुए हैं। फिर भी, स्वायत्त महिला समूहों की विरासत इसी में है कि उन्होंने जमीनी सक्रियता को संवैधानिक अधिकारों और विधायी बदलाव से जोड़ने का एक मॉडल स्थापित किया — एक ऐसा मॉडल, जो लैंगिक हिंसा के विरुद्ध आज के संघर्षों को भी दिशा देता रहता है।

संदर्भ (References)

1. Agnes, F. (1992). Protecting women against violence? Review of a decade of legislation, 1980-89. Economic and Political Weekly, 27(17), WS19-WS33.
2. Baxi, U., Sarkar, L., Dhagamwar, V., & Kelkar, R. (1980). An open letter to the Chief Justice of India. Economic and Political Weekly, 15(11), 35-38.
3. Chakravarti, U. (1993). Conceptualising Brahmanical patriarchy in early India: Gender, caste, class and state. Economic and Political Weekly, 28(14), 579-585.
4. Committee on the Status of Women in India. (1974). Towards equality: Report of the Committee on the Status of Women in India. Government of India.
5. Crenshaw, K. (1989). Demarginalizing the intersection of race and sex: A Black feminist critique of antidiscrimination doctrine. University of Chicago Legal Forum, 1989(1), 139-167.
6. Desai, N. (1986). A decade of the women's movement in India. Himalaya Publishing House.
7. Forbes, G. (1996). Women in modern India. Cambridge University Press.
8. Friedan, B. (1963). The feminine mystique. W. W. Norton.
9. Gangoli, G. (2007). Indian feminisms: Law, patriarchy and violence in India. Ashgate.
10. Government of India. (1950). The Constitution of India. Government of India Press.
11. Hanisch, C. (1970). The personal is political. In S. Firestone & A. Koedt (Eds.), Notes from the second year: Women's liberation (pp. 76-78). Radical Feminism.
12. Hartmann, H. (1979). The unhappy marriage of Marxism and feminism: Towards a more progressive union. Capital & Class, 3(2), 1-33.
13. hooks, b. (1984). Feminist theory: From margin to center. South End Press.
14. Kumar, R. (1993). The history of doing: An illustrated account of movements for women's rights and feminism in India, 1800-1990. Kali for Women.
15. Menon, N. (2012). Seeing like a feminist. Zubaan.
16. Mill, J. S. (1988). The subjection of women. Hackett Publishing. (Original work published 1869)
17. Mohanty, C. T. (1988). Under Western eyes: Feminist scholarship and colonial discourses. Feminist Review, 30, 61-88.
18. Oldenburg, V. T. (2002). Dowry murder: The imperial origins of a cultural crime. Oxford University Press.
19. Omvedt, G. (1993). Reinventing revolution: New social movements and the socialist tradition in India. M. E. Sharpe.
20. Sen, I. (2000). Towards a feminist politics? The Indian women's movement in historical perspective. In M. Krishna Raj (Ed.), Women and development: The Indian experience. Shubhi Publications.
21. Wollstonecraft, M. (1992). A vindication of the rights of woman. Penguin Classics. (Original work published 1792)